समयांतर

असहमति का **साहस** और
सहमति का **विवेक**

अनवरत प्रकाशन का 23वां वर्ष

फरवरी 2022

सांप्रदायिकता : ऑनलाइन अपराध

सुल्ली डील्स और बुल्ली बाई एप्स कांड जिस तरह उद्घाटित हो रहा है वह अत्यंत डरावना है। इससे कई होनहार बच्चे दागी होनेवाले हैं। कहना कठिन है कि उनका भविष्य क्या मोड़ लेगा। – **संपादकीय**

प्रतिरोध : विकल्प के सवाल

प्रतिरोध की अनुपस्थिति में न तो समाज और न ही राज्य का विकास संभव है, न ही मानव इतिहास गतिशील रह सकेगा। –**रामशरण जोशी**

राज्यों के चुनाव : हवा का बदलता रुख

फरवरी और मार्च के दौरान होनेवाले पांच राज्यों के चुनावों का विश्लेषण कर रहे हैं **प्रेम पुनेठा, प्रदीप सिंह** *और* **सिद्धार्थ** *का विश्लेषण।*

शिक्षा: विज्ञान और समाज का संबंध

एक चिंतन पद्धति के रूप में, विज्ञान में तार्किकता, औचित्यता, छिद्रांवेशिता और समालोचनात्मकता प्रमुखत: रहते हैं । प्रश्न है एक मूल्य रूप में यह पद्धति हमारे समाज का कितना हिस्सा बन पाई है ? – **मनीष शर्मा**

विवेकवान पाठकों के लिए

samayantar.com *पर चुनींदा लेख पढ़ें, आपका स्वागत है*

महिला आरक्षण में जातिः ब्रिटिश काल का संदर्भ

– **सपना चमड़िया**

साहित्य और साहित्यकार

कहां है वामपंथ?

– **रंजीत वर्मा**

पुस्तक-चर्चा

दुनिया जो सबकी हो

– *नारीवादी निगाह* की समीक्षा
कनक लता

फिल्म

पलासा-19 – **योगेश मैत्रेय**

शुल्क की दरें

एक वर्ष : रु. 350; दो वर्ष : रु. 600
तीन वर्ष : रु. 850; पांच वर्ष : रु. 1350
छात्रों के लिए : एक वर्ष : रु. 250;
दो वर्ष : रु. 350

बैंक के माध्यम से शुल्क भेजने के लिए
Samayantar Current a/c
No. 27520200000094
IFSC code: BARB0MAYVIH
Bank of Baroda, Mayur Vihar
Ph.-I Delhi-110091

समयांतर, 79-ए, दिलशाद गार्डन,
दिल्ली-110095
फोन : 9667685659 (संपादकीय)
व्यवस्थापक: 9871403843

email:
samayantar.monthly@gmail.com

Scanned with CamScanner

वैज्ञानिक शिक्षा: सामाजिक सरोकारों का संदर्भ

मनीष शर्मा

विज्ञान एक चिंतन पद्धति के रूप में, जिसमें तार्किकता, औचित्यता, छिद्रांवेशिता और समालोचनात्मकता प्रमुखत: रहते हैं, समाज का कितना हिस्सा बन पाई है?

विज्ञान एक चिंतन पद्धति के रूप में जिसमें तार्किकता, औचित्यता, छिद्रांवेशिता और समालोचनात्मकता प्रमुखत: रहते हैं, समाज का कितना हिस्सा बन पाई है ?

सरसरी निगाह से देखने पर विज्ञान एक अमूर्त विषय प्रतीत होता है जो गुरुत्वाकर्षण तरंगों व न्यूट्रिनों जैसी ब्रह्मांडीय क्रियाविधियों को समझने में लगा है। इस प्रकार के ज्ञान का समाज से क्या सरोकार ? हमारे समाज में कितने व्यक्ति इन खोजों से अपने को संबंधित पाते हैं और हमारे जीवन को ये किस प्रकार प्रभावित करती हैं ? इस प्रकार के तमाम प्रश्न हमारे मस्तिष्क में उठ सकते हैं। परंतु इस विषय में जल्दी ही निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले यदि हम विज्ञान, प्रौद्योगिकी व समाज की अंतर्क्रिया को समझने का प्रयास करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि विज्ञान प्रौद्योगिकी के रूप में खुद को साकार रूप से समाज में अंतर्निहित करता है और धीमे-धीमे सभी व्यक्तियों के जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है। यद्यपि यह एक विचारणीय प्रश्न है कि विज्ञान एक चिंतन पद्धति के रूप में जिसमें तार्किकता, औचित्यता, छिद्रांवेशिता और समालोचनात्मकता प्रमुखत: रहते हैं, समाज का कितना हिस्सा बन पाई है ?

लेख में इस विषय पर कुछ बिंदुओं को उठाने की कोशिश है जो सामान्यत: विज्ञान और विशेषत: भारत में विज्ञान शिक्षा के संदर्भ में हैं। पहला बिंदु विज्ञान की मूल्य निरपेक्षता (वैल्यू न्यूट्रैलिटी) को लेकर है जिसके तहत पूंजी के साथ विज्ञान के संबंध को समझने का प्रयास किया है। दूसरे बिंदु में विज्ञान शिक्षा और सामाजिक सरोकार के संबंध को वैज्ञानिक तार्किकता (साइंटिफिक रेशनलिटी) और यांत्रिक तार्किकता (इंस्टमेंटल रेशनलिटी) के संदर्भ में समझने का प्रयास किया है (मर्कूज 1964, पृ. सं. 161)। तीसरा बिंदु समाज में विज्ञान के अधिपत्य को लेकर उठाया गया है जिससे विज्ञान का अन्य प्रकार की ज्ञान प्रणालियों से संबंध विच्छेद करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। चौथे एवं अंतिम बिंदु में विज्ञान, तकनीक और विज्ञान का समाज के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व के अंतरसंबंध को समझने का प्रयास है।

इन सभी बिंदुओं को एक सूत्र में पिरोकर इस लेख में विज्ञान के विकास को आधुनिकता की पृष्ठभूमि में मानव-मुक्ति के लक्ष्य की दशा व दिशा के संदर्भ में आलोचनात्मक विश्लेषण पद्धति से समझने का प्रयास किया गया है। आज पूंजीवाद के प्रभाव में वैज्ञानिक प्रयासों के परिणामस्वरूप उत्पन्न तकनीक पर मनुष्य की अतिनिर्भरता, इसका भारी मात्रा में राय निर्माण के फीडर के तौर पर प्रयोग और मनुष्य की लालसाओं को प्रचार तंत्र (जो खुद वैज्ञानिक तरक्की की देन है) द्वारा उसकी जरूरतों के रूप में पेश कर अंधाधुंध उत्पादन की होड़ ने मानव मुक्ति के प्रश्न को एक बार पुन: प्रासंगिक बना दिया है। (मर्कूज 1964, पृ. सं. 161)।

क्या विज्ञान मूल्य-निरपेक्ष है?

विज्ञान की मूल्य-निरपेक्षता का सामान्यत: यह अर्थ समझा जाता है कि विज्ञान सत्य की खोज में निरपेक्ष है। वैज्ञानिक ज्ञान को निरपेक्ष स्वीकारने का प्रमुख कारण यह मानना है कि ये व्याख्याओं व व्यक्तिगत पसंद-नापसंद, किसी विशिष्ट समाज व समय इत्यादि पर निर्भर नहीं करता है। इस संदर्भ में तार्किक भाववादी विचारकों का मत है कि वैज्ञानिक ज्ञान केवल तथ्यात्मक ज्ञान है, न कि मूल्यात्मक। एयर लिखते हैं कि विज्ञान कभी मूल्यपरक विषयों में सम्मिलित नहीं होता है बल्कि तथ्यात्मक विषय ही इसके प्रमुख विषय क्षेत्र हैं। (एयर 1936, पृ. सं. 208) इसके अलावा, वैज्ञानिक लेखन में एकवचन व्यक्तिवाचक शब्दों या वाक्यांशों जैसे 'मैं' 'मेरी राय में' इत्यादि के प्रयोग न कर विज्ञान को 'अपौरुषेय' मान कर इतिहास और सांस्कृति से परे स्वीकार किया जाता रहा है। क्योंकि इतिहास व सांस्कृति का विषय तो कोई व्यक्ति ही हो सकता है, न कि विज्ञान जो अपौरुषेय एंव सार्वभौमिक है।

हालांकि, यह विचार इस तथ्य को नकारता है कि प्राकृतिक नियम मनुष्य के निहितार्थों से अप्रभावित हो सकते हैं परंतु विज्ञान स्वयं नहीं। चूंकि विज्ञान अन्य मानवीय गतिविधियों के समान ही एक मानवीय गतिविधि है और इसलिए यह मानवीय मूल्यों से प्रभावित होती है - उदाहरण के लिए गुरुत्वाकर्षण का नियम मानवीय मूल्य, संस्कृति और इतिहास से परे अपने में काम कर सकता है, परंतु जैसे ही यह मनुष्य के ज्ञान का हिस्सा बनता है, इसका प्रयोग का उस समय व समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक उद्देश्यों व अभिरुचियों से प्रभावित होना तय है। वहीं दूसरी ओर एक वैज्ञानिक जो उस समाज व संस्कृति का विषय होने के कारण अवचेतन रूप से इनसे प्रभावित एवं चालित होता है। परिणामस्वरूप, इसका व्यक्तिनिष्ठ असर वैज्ञानिक निष्कर्षों पर भी पड़ता है। तीसरा महत्वपूर्ण हिस्सा जो विज्ञान के लक्ष्यों को प्रभावित और निर्धारित करता है वह किसी वैज्ञानिक शोध को फंड करने वाली संस्था के मूल्य व लक्ष्य होते हैं।

वैज्ञानिक सत्य की मूल्यनिरपेक्षता और सार्वभौमिकता को विभिन्न चिंतकों ने विभिन्न कारणों से चुनौती दी है। इस संदर्भ में सत्य व विज्ञान की प्रगति के बारे में टेलियोलॉजिकल दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हुए, थॉमस कुह्न वैज्ञानिक प्रगति के विकासवादी दृष्टिकोण के पक्ष में हैं। विकासवादी दृष्टिकोण में एक जीव के विकास को उसके पर्यावरण द्वारा निर्धारित चुनौती के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है, न कि किसी नियोजित लक्ष्य की प्राप्ति की ओर क्रमिक विकात के रूप में। अत: सामान्य विज्ञान की दिशा प्रचलित वैज्ञानिक सिद्धांत, जिसे कुह्न ने 'पेराडाइम' कहा है एवं सामाजिक-तात्कालिक राजनीतिक आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। कुह्न

Scanned with CamScanner

सामान्य विज्ञान को 'पहेली-सुलझाने' के रूप में वर्णित करते हैं।

''यह कोई क्रॉसवर्ड पहेली या शतरंज की समस्या या जिग्सॉ पहेली सुलझाने के समान है। इसमें पहेली सुलझाने वाला पूरी तरह से नए क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता है क्योंकि इसकी पहेलियां और उनके समाधान परिचित और अपेक्षाकृत सरल हैं। यह प्रक्रिया वैचारिक, सैद्धांतिक, उपकरणों और कार्यप्रणाली की प्रतिबद्धताओं के एक मजबूत नेटवर्क से बंधी हुई है जो सामान्य विज्ञान द्वारा पहेली-सुलझाने का आधार है और सिद्धांत द्वारा अपेक्षित परिणाम को प्राप्त करना होता है।'' (कुह्न 2012, पृ. सं.35)

इस प्रश्न की गहन विवेचना के लिए हमें आधुनिक विज्ञान, जिसे सामान्यत: विज्ञान का पर्याय माना जाता है, की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रकृति और लक्ष्य को समझना आवश्यक है। आधुनिक विज्ञान की शुरुआत योरोप में प्रबोधन के काल से जुड़ी हुई है। जिसमें मनुष्य द्वारा धर्म से इतर तार्किक आधार पर प्रकृति के नियमों को समझने का एक व्यवस्थित प्रयास किया गया था। यहां विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य मनुष्य मुक्ति रहा था। अत:, मानव जीवन को पारलौकिक धार्मिक व्याख्या से हटाकर इहलौकिक तार्किक व्याख्या द्वारा संचालित करने के इस प्रयास को मानव इतिहास के एक महत्वपूर्ण चरण के रूप में देखा जा सकता है। क्योंकि इस पूरी कवायत का लक्ष्य मनुष्य की धर्म और परलोकवादी निर्भरता को समाप्त कर उसे स्वायत्त जीवन की दिशा में गतिशील करना था।

विज्ञान और विचारधाराएं

मैक्स होर्खाइमर और थियोडोर एडोर्नो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डायलेक्टिक ऑफ एनलाइटेनमेंट' में प्रबोधन की मुक्ति की अपनी परियोजना और उत्पीड़न और वर्चस्व के अपने नए तंत्रों के आंतरिक तनाव को दर्शाने का प्रयास किया है। इस समय विज्ञान के साथ-साथ कुछ अन्य विचारधाराओं का भी जन्म हुआ जिनमें प्रमुख मानववाद, पूंजीवाद और उपनिवेशवाद हैं। उल्लेखनीय है कि इस युग में विज्ञान एवं इन विचारधाराओं के विकास में पारस्परिक सहयोग रहा है और एक-दूसरे को इन्होंने प्रभावित भी किया है। अत: इनके आपसी व्यापक प्रभावों को समझे बिना विज्ञान के सामाजिक प्रभाव को समझना दुरूह कार्य होगा।

उल्लेखनीय है कि इन विचारधाराओं ने विज्ञान की तथाकथित सार्वभौमिकता और निष्पक्षता को भी बहुत हद तक प्रभावित किया है। यहां सर्वाधिक महत्वपूर्ण संबंध विज्ञान और पूंजीवाद के मध्य है, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के परस्पर विकास और प्रचार-प्रसार के लिए लगातार निर्भर रहे हैं। ऐसी स्थिति में विज्ञान की सार्वभौमिकता और निष्पक्षता को लेकर सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक, दोनों प्रकार के प्रश्न विचारकों द्वारा उठाए गए हैं। शब्द सीमा को ध्यान में रखते हुए इस बहस में गहरे न जाते हुए इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा कि आधुनिक विज्ञान के प्रमुख लक्ष्यों में मानव-मुक्ति (ह्यूमन इमेनसीपेशन) व मानव सशक्तिकरण (ह्यूमन एम्पावरमेंट) शुरू से सम्मिलित रहे हैं। अत: यह विज्ञान के विकास को मापने का एक प्रमुख आधार है जिससे विज्ञान को विमुख नहीं होना चाहिए।

विज्ञान की दिशा और मानव मुक्ति का प्रश्न

विज्ञान दो रूपों में समाज से जुड़ता है। पहला, एक चिंतन पद्धति के रूप में और दूसरा, तकनीक के रूप में। विज्ञान के चिंतन पद्धति के रूप से मेरा आशय वही है जिसे नेहरू ने अपनी पुस्तक 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में 'साइंटिफिक टेंपर' कहा है :

''विज्ञान सकारात्मक ज्ञान के क्षेत्र से संबंधित है, लेकिन इससे जो टेंपर उत्पन्न होना चाहिए, वह इस डोमेन से आगे निकल जाता है। मनुष्य का अंतिम उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना, सत्य को अनुभूत करना, अच्छाई और सुंदरता की सराहना करना है। वस्तुनिष्ठ जांच का वैज्ञानिक तरीका इन सभी विषयों पर लागू नहीं होता है। और जो जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, वह इसके दायरे से परे लगता है: जैसे कला और कविता के प्रति संवेदनशीलता, सौंदर्य से उत्पन्न भावना, अच्छाई की आंतरिक पहचान, इत्यादि। वनस्पतिशास्त्री या प्राणीविज्ञानी प्रकृति के आकर्षण और सौंदर्य का अनुभव कभी नहीं कर सकते हैं; समाजशास्त्री में मानवता के प्रति पूर्ण प्रेम का अभाव हो सकता है। लेकिन यहां तक कि जब हम वैज्ञानिक पद्धति की पहुंच से परे के क्षेत्रों में जाते हैं जहां दर्शन बसता है और उच्च भावनाएं हमें भर देती हैं, या परे अनंत की ओर टकटकी लगाते हैं। तब भी यह दृष्टिकोण या 'साइंटिफिक टेंपर' आवश्यक होता है।'' (पृ.सं. 512-3)

एक ओर जहां 'साइंटिफिक टेंपर' मनुष्य के विचारों में गुणात्मक अंतर लाकर जीवन-शैली में बदलाव लाता है, तो वहीं दूसरी ओर प्रौद्योगिकी के रूप में विज्ञान हमारे रहने, खाने, यात्रा करने एवं अंतर्वैयक्तिक-संबंधों में परिवर्तन लाने के साथ-साथ अपने व्यापक प्रभावों की छाप जातीय व लैंगिक असमानता जैसे सामाजिक संबंधों पर भी डालता है। सामान्यत: विज्ञान के इन दोनों पहलुओं को समान वरीयता दी जाती है, परंतु अगर हम इसे मानव-मुक्ति के संदर्भ में देखें तो दोनों के मध्य बड़ा अंतर पाएंगे। पहले में मनुष्य एक व्यक्ति (इंडिविजुअल) के रूप में तार्किकता, औचित्यता, इत्यादि के आधार पर स्वतंत्र निर्णय लेता है, वहीं दूसरे में वह बाजार के प्रभाव में अपनी तर्क-शक्ति को मशीन के हवाले करके अधिकतम शारीरिक सुख को लक्षित कर रहा है।

अत: यह समय आत्मचिंतन कर देखने का है कि विज्ञान की कौन सी दिशा मानव-मुक्तिदायी हो सकती है, विशेषकर भारतीय जनमानस के संदर्भ में? इस विषय में गांधी द्वारा पश्चिमी आधुनिक सभ्यता व शिक्षा को लेकर 'हिंद स्वराज' व 'नई तालीम' में की गई विवेचना एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शक हो सकती है। गांधी की शैक्षिक योजना शारीरिक कार्य, व्यावहारिक प्रशिक्षण और शिक्षा के माध्यम के रूप में स्थानीय भाषाओं पर जोर देती है। गांधी ने विज्ञान को व्यक्तिगत वैज्ञानिक से स्वतंत्र एक स्वायत्त खोज के रूप में नहीं देखा, उनकी योजना में वैज्ञानिक की एजेंसी महत्वपूर्ण है। उसे सचेत और आत्म चिंतनशील होना चाहिए और इस प्रश्न से बचना नहीं चाहिए कि एक ''वैज्ञानिक को वास्तव में क्या काम करना चाहिए''? गांधी का स्पष्ट कहना था कि वैज्ञानिक का सही स्थान, न तो शोषणकारी बाजार के साथ है और न ही राज्य को मजबूत करने का, बल्कि लोगों के साथ है। विज्ञान में गांधी द्वारा शुरू किए गए सभी प्रयोगों ने इस 'डोमेन' को तराशने और स्पष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने तरीके से तथ्य और मूल्य, विज्ञान और धर्म के बीच के

Scanned with CamScanner

संबंधों को जोड़ने की कोशिश की। उनका मानना था कि एक वैज्ञानिक की भूमिका केवल तथ्य के दायरे तक नहीं सीमित है बल्कि अर्थ (मूल्य) बनाना भी है। गांधी 'नई तालीम' में लिखते हैं: ''हर हस्तकला को केवल यांत्रिक रूप से नहीं पढ़ाया जाना चाहिए, जैसा कि आज किया जाता है, बल्कि वैज्ञानिक रूप से पढ़ाना चाहिए''। (गांधी, हरिजन, 31 जुलाई 1937)

विज्ञान का व्यक्ति, समाज एवं सरकारी नीतियों पर पड़ने वाला व्यापक प्रभाव ही वैज्ञानिक शिक्षा के महत्व और जिम्मेदारी को दर्शाता है। विज्ञान, विकास, तकनीक और समाज के मध्य अंतर्क्रिया को समझना, उसके मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन करना और आगे की दिशा निर्धारण करना वैज्ञानिक शिक्षा की एक बड़ी जिम्मेदारी है। क्या हम समाज में केवल नवीनतम तकनीकी रूप से उन्नत मशीनों को बेचकर 'साइंटिफिक टेंपर' उत्पन्न कर सकते हैं या ऐसे वातावरण को बनाने के लिए विज्ञान शिक्षा में कुछ मौलिक सुधार करने की जरूरत है?

वैज्ञानिक शिक्षा एवं मनुष्य जीवन के बहुआयामी पहलू

विज्ञान के सार्वभौमिकता और निष्पक्षता, इत्यादि के दावों के सैद्धांतिक पक्ष पर हुर्सेल, हर्बर्ट मार्क्यूज, गांधी एवं सुंदर सरुकै जैसे विचारकों ने कई गंभीर प्रश्न उठाए हैं। इन विचारकों ने अपने गहन विश्लेषण द्वारा विज्ञान के वस्तुकरण, सारवाद (एसेंशियलिस्म) और वैज्ञानिक प्रभुत्ववाद (साइंटिफिसिस्म) से उत्पन्न समस्याओं से मनुष्य जीवन पर होने वाले दुष्परिणामों की ओर इशारा भी किया है। हुर्सेल ने अपनी पुस्तक 'क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइंस' में विज्ञान द्वारा प्रत्येक विषय के वस्तुकरण को लेकर मानव चेतना पर इसके दुष्प्रभाव को दर्शाया है। वह कहते हैं:

''आधुनिक विज्ञान का मानव अस्तित्व से कोई लेना-देना नहीं है। क्योंकि इस विज्ञान की विधियां मात्रात्मक डेटा पर विचार करती हैं और गुणात्मक डेटा की उपेक्षा करती हैं। नतीजतन, मानव चेतना को मानव व्यवहार तक सीमित ('रिड्युस') कर दिया जाता है। हमारे अस्तित्व को अर्थ देने में विज्ञान की यह विफलता इस तथ्य से उपजी है कि विज्ञान समग्रता के दृष्टिकोण को ग्रहण करने में असमर्थ रहा। इसे तकनीक ('टेक्ने') में रिड्युस कर दिया गया है, जो एक जोड़-तोड़ की कला है। जिसमें सार्थक और वास्तव में मानवीय कार्यों को नकार दिया जाता है। क्योंकि यह मानव यथार्थ को इसकी समग्रता में नहीं, बल्कि केवल 'वस्तुकरण' के नियमों से संचालित 'विशेष' तथ्यों के कुल योग के रूप में स्वीकार करता है। केवल तथ्यपरक-दिमाग वाले विज्ञान केवल तथ्यपरक-दिमाग वाले इंसान को बनाते हैं... यह सिद्धांत रूप में उन सवालों को सटीक रूप से शामिल नहीं करता है जो मनुष्य के दुख एवं सबसे अधिक उथल-पुथल वाले समय में उठते हैं और जो सर्वाधिक ज्वलंत सवाल हैं: वे इस समस्त मानव अस्तित्व के अर्थ या अर्थहीनता से जुड़े प्रश्न हैं।'' (हुर्सल, 1970, पृ. सं. 6-7)

सबसे महत्वपूर्ण समस्या जिस ओर हुर्सेल ने ध्यान आकर्षित किया है वह वैज्ञानिक प्रभुत्वता है जिसका नतीजा एक-पक्षीय मानव के निर्माण के रूप में सामने आया है। (पृ. सं. 299) इसके अंतर्गत जीवन के सभी आयामों को नकार कर सत्य को केवल तार्किक, बाह्य वस्तुनिष्ठ संबधों व गुणात्मक डेटा तक सीमित कर देना एक अतिवाद का रूप ले लेता है और आंशिक को पूर्ण समझने जैसा है। हुर्सेल, तार्किकता की असफलता के रूप में दिखने वाली समस्या को असल में वैज्ञानिक प्रभुत्वता की 'प्राकृतिकता' (नेचुरलिज्म) व 'वस्तुकरण' (ओब्जेक्टिफिकेशन) की प्रवृत्ति में देखता है।

इस एकपक्षीय मानव को हर्बर्ट मर्क्यूज ने अपनी पुस्तक वन डायमेंशनल मैन में बखूबी दर्शाया है। इस एक पक्षीय मानव के निर्माण में मनुष्य के भावनात्मक व रचनात्मक पक्ष को उसके तार्किक पक्ष से कमतर आंकने की प्रवृत्ति मुख्य भूमिका निभाती है। (मर्क्यूज, 1964, पृ.सं.5) वैज्ञानिक प्रभुत्ववाद (हेजेमनी) से उत्पन्न एक पक्षीय मानव के निर्माण के कारण ही मनुष्य आज 21वीं शताब्दी में उच्चतम तकनीक, आधुनिकतम उपकरणों के बावजूद भी असीम असुरक्षा, अविश्वास और ग्लानि का जीवन जी रहा है। एरिक फ्रॉम जैसे विचारकों का मत है कि हम उत्पादन की समस्या को सैद्धांतिक तौर पर लगभग सुलझा चुके हैं, परंतु इसके बावजूद मनुष्य के जीवन की असुरक्षा, निराशा और अविश्वास को समाप्त करने में सफलता नहीं मिली है। (फ्रॉम, 1947, पृ.सं.26)

इन दशाओं में यह प्रश्न पुनः पुनः उठता है कि विज्ञान की अभूतपूर्व तरक्की, आवश्यक उपभोग से अधिक उत्पादन और भूमंडलीकरण के वावजूद विज्ञान मानव जीवन की गुणवत्ता में किस हद तक योगदान दे पा रहा है? तब क्या विज्ञान से उत्पन्न इस अकूत संपदा का मनुष्य अपने जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए समुचित प्रयोग कर पाया है? और अगर वह ऐसा करने में असमर्थ है तो वे कौन से तत्व हैं जो उसे ऐसा करने से रोक रहे हैं? यह प्रश्न विज्ञान शिक्षा और वैज्ञानिक समुदाय के लिए भी एक प्रमुख प्रश्न होना चाहिए।

इस संदर्भ में हमें वैज्ञानिक प्रभुत्वता से इतर मनुष्य के अन्य आयामों को समझने का प्रयास करना चाहिए और विज्ञान तथा वैज्ञानिक शिक्षा को मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक के रूप में देखना चाहिए। इस विषय में विज्ञान का समाज व अन्य सामाजिक विज्ञानों से गहरा संबंध स्थापित करने के गंभीर प्रयास करने आवश्यक हैं। ऐसा करने के लिए हमें विज्ञान की मूलभूत मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन के लिए भी तैयार रहना चाहिए, जिसमें प्रमुख मान्यता, मनुष्य व प्रकृति के आपसी संबध को लेकर है। अभी तक योरोप केंद्रित विज्ञान का लक्ष्य प्रकृति पर विजय पाने की भावना रही है जिसके दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं। सुंदर सरूकै ने अपनी पुस्तक 'व्हॉट इज साइंस' में मानव व प्रकृति के संबंध को लेकर विज्ञान की समस्या को दर्शाया है और इसके पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता की ओर ध्यान दिलाया है। (पृ.सं. 25)

इसके अलावा हमें यह समझने की क्षमता भी विज्ञान के छात्रों में उत्पन्न करनी चाहिए कि विज्ञान प्रकृति को समझने की अनेक प्रणालियों में से एक प्रणाली है, यद्यपि यह एक उत्तम प्रणाली है, परंतु इससे अलग भी कुछ प्रणालियां हैं जो प्रकृति को समझने का प्रयास कर रही हैं और वे प्रणाली पूर्णतः अप्रासंगिक नहीं हैं। उदाहरण के तौर पर, हम विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों को ले सकते हैं जो प्रकृति को समझने के प्रयास में लगी हैं। इन पद्धतियों में प्रमुख एनालिटिकल फिलॉसोफी (विश्लेषणात्मक दर्शन), अस्तित्ववाद एवं साहित्यक प्रणालियों को लिया जा सकता है। ये प्रणालियां मनुष्य के भावनात्मक पक्ष व

Scanned with CamScanner

गुणात्मक पहलुओं पर जोर देने के कारण जीवन को वैज्ञानिक प्रभुत्वता से रोकता है। ये विज्ञान द्वारा निष्कासित निष्कर्षों के परिपूरक के रूप में उसी सत्य के अन्य आयामों को उद्घाटित करने के साथ मनुष्य के बहुआयामी पक्ष का प्रतिनिधित्व भी करती हैं।

साथ ही तकनीक और विज्ञान के मध्य संबंध को भी समाज के प्रति जिम्मेदारी के संदर्भ में समझने की ओर वैज्ञानिक शिक्षा को कदम बढ़ाने चाहिए। तकनीक से उत्पन्न उत्पादों से विज्ञान का ऐसा संबंध है जिससे वह खुद को अलग नहीं कर सकती है। विज्ञान को तकनीक व इससे उत्पन्न समस्याओं के प्रति नैतिक जिम्मेदारी लेनी चाहिए और उसके अनुरूप वैज्ञानिक शिक्षा को तैयार करना चाहिए। मानव मुक्ति के लिए वैज्ञानिक शिक्षा को इन विभिन्न मानवीय आयामों के प्रति जागरूक और खुलापन पैदा करने की अत्यधिक आवश्यकता है। ■

संदर्भ सूची :

1. एयर, ए. जे. : *लैंग्वेज, ट्रूथ एंड लॉजिक*, रेयरसन प्रेस (1936).
2. कुह्न, टी.एस.: *दी स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवल्यूशन*, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस (2012)
3. गांधी, मोहनदास करमचंद: *नई तालीम*, नवजीवन पब्लिकेशन हाउस (1953)
4. गांधी, मोहनदास करमचंद: *हिंद स्वराज*, नवजीवन पब्लिकेशन हाउस, (2014)
5. ग्रिम, पैट्रिक: *फिलॉसोफी ऑफ साइंस एंड द ऑकल्ट*, स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू यॉर्क प्रेस, (1990)
6. नेहरू, जवाहरलाल: *द डिस्कवरी ऑफ इंडिया*, पेंग्विन इंडिया, (2008)
7. फ्रॉम, एरिक: *मैन फॉर हिमसेल्फ*, ओपन रोड इंटीग्रेटेड मीडिया (1947)
8. मर्कूज, हर्बर्ट: *वन डायमेंशनल मैन*, बीकन प्रेस, (1964)
9. सरूकै, सुंदर: *व्हाट इज साइंस*, नेशनल बुक ट्रस्ट, (2012)
10. हुर्सल, एडमंड: *दि क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइंसेस एंड ट्रांसेंडैंटल फेनोमेनोलॉजी*, ट्रांस. डेविड कार्र, इवानस्टन (1970)

ब्रिटिश काल में जातिगत आधारित महिला आरक्षण

सपना चमड़िया

महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण जाति आधारित होना चाहिए या महिलाओं के बीच जाति के आधार पर सीटों का आरक्षण नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रश्न को ऐतिहासिक संदर्भों में देखने की यह आवश्यकता है कि क्या महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था जाति आधारित करने के प्रयास किए गए हैं या नहीं? यदि प्रयास किए गए हैं तो उन प्रयासों पर संसदीय पार्टियों का रुख कैसा रहा है और क्या संसदीय पार्टियों का जाति आधारित महिलाओं के लिए विधायिका में आरक्षण को लेकर रुख समय के साथ बदलता रहा है?

भारत में संसदीय लोकतंत्र की सर्वोच्च संस्थाओं संसद और विधानमंडलों में महिलाओं के उचित प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित करने का प्रश्न लंबे समय से विवाद का विषय बना हुआ है। विवाद के कारण संसदीय पार्टियों के बीच संविधान में संशोधन करने और तदानुसार महिलाओं के लिए निर्वाचन क्षेत्रों को सुरक्षित करने के प्रस्ताव पर आम सहमति का नहीं बन पाना है। आम सहमति नहीं बन पाने की यह मुख्य वजह है कि महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण जाति आधारित होना चाहिए या महिलाओं के बीच जाति आधार पर सीटों का आरक्षण नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रश्न को ऐतिहासिक संदर्भों में देखने की यह आवश्यक्ता है कि क्या महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था जाति आधारित करने के प्रयास किए गए हैं या नहीं ? यदि प्रयास किए गए हैं तो उन प्रयासों पर संसदीय पार्टियों का रुख कैसा रहा है और क्या संसदीय पार्टियों का जाति आधारित महिलाओं के लिए विधायिका में आरक्षण को लेकर, रुख समय के साथ बदलता रहा है ? यह लेख इसी प्रश्न की पड़ताल करता है।

आरक्षण के आधार बदलते रहते हैं

भारत में सत्ता संचालन में हिस्सेदारी के लिए अवसर देने की मांग और देने का निर्णय लंबे समय से विवाद का विषय बना रहा है। भारत में विशेष अवसर प्रदान करने के कई आधार होते हैं। शारीरिक अक्षमता के अलावा राष्ट्रीयता, आर्थिक, जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र और जेंडर, आदि हैं। पूरी दुनिया में वंचितों को अवसर प्रदान करने के प्रावधान किए जाते हैं और उसके आधार देशकाल के अनुरूप निर्धारित होते हैं। अमेरिका और योरोप में नस्लीय आधार पर विशेष अवसर प्रदान करने के प्रावधान किए जाते हैं। लेकिन भारत में जाति, धर्म, लिंग के आधार पर अवसर प्रदान करने की मांग और राजनीतिक सत्ता द्वारा उसे देने के फैसले को लेकर विवाद बना रहता है। इस विवाद में एक महत्वपूर्ण प्रवृति यह पाई जाती है कि विवाद को खड़ा करने के पीछे जो तर्क दिए जाते हैं उसमें भारत में अवसर देने के ऐतहासिक संदर्भों को नजर अंदाज कर दिया जाता है। मसलन भारत में विभिन्न आधारों पर अवसर प्रदान करने की मांग और सत्ता द्वारा अवसर देने के फैसले 1947 के बाद यानी स्वतंत्रोत्तर भारत में विकसित नहीं हुए हैं। भारत में विशेष अवसर अथवा आरक्षण देने की मांग और उसके लिए सत्ता द्वारा प्रावधान 1947 से पहले ब्रिटिश हुकूमत में भी आंदोलन के आधार रहे हैं।

1947 के पूर्व भारत में अवसर यानी आरक्षण की मांग और उसके आधार

सन 1947 से पूर्व भारत में अवसर और आरक्षण की मांग का मुख्य आधार राष्ट्रीयता थी। यह अपने आप में एक विचित्र स्थिति थी कि भारत में भारतीयों के लिए आरक्षण की मांग की जा रही थी। उस दौरान ब्रिटिश हुकूमत राष्ट्रीयता के आधार पर लोगों को विभिन्न स्तरों पर अवसरों से

Scanned with CamScanner